Shodhshauryam, International Scientific Refereed Research Journal
© 2020 SHISRRJ | Volume 3 | Issue 3 | ISSN : 2581- 6306

मगही के जनपक्षधर कवि मथुरा प्रसाद 'नवीन'

राम उदय कुमार
सह प्राध्यापक, हिंदी विभाग, शिवदेनी साव कॉलेज, कलेर, अरवल, बिहार

शोध सार : मथुरा प्रसाद नवीन जी मगही भाषा (बोली) के कवि हैं। एक क्षेत्रीय भाषा के कवि होकर भी इनकी कविताओं में राष्ट्रीय चेतना और राष्ट्रीय -अंतर्राष्ट्रीय की चिंताएं मौजूद हैं। नवीनजी की कविता में बनावटीपन नहीं है। यहाँ भारी-भरकम शब्द - जंजाल और खिलवाड न मिलेगा और न ही ऊपरी या आकाशी बातें मिलेंगी। यहाँ कवि जड को पकड़ता है क्योंकि खुद भी मिट्टी से जुड़ा हुआ है. वे जनपक्षधर कवि हैं जिनकी कविता में जनता की चिंताएं शामिल हैं। लोकतंत्र की विडंबनाएँ और इसका विरोधाभास उनकी कविताओं में मौजूद है।

बीज शब्द : जनता, लोकतंत्र, जन, सत्ता, भ्रष्टाचार, राजनीति, भारत

'आखिर कहिया तक' अर्थात् आखिर कब तक! यह मगही के एक बड़े कवि का कविता संग्रह है। कविता ऐसी कि हिंदी के बड़े कवियों के समकक्ष रखी जाय। बड़ा कवि वह है जिसमें सच कहने का साहस हो; बेलाग, जैसे निराला-मुक्तिबोध। संग्रह के सम्पादक डॉ० भरत सिंह ने अपने सम्पादकीय में कहा भी है- 'उनकी निडरता आजीवन बनी रही क्योंकि उनकी भावुकता में बदलाव न हुआ' और उन्होंने 'राजसुख नहीं भोगा।' भावुकता की जगह संवेदनशीलता होती तो नवीनजी के हिसाब से कहीं सही होता। जो हो, यह बड़ी बात है जो कवि-साहित्यिक को आम आदमी के सुख-दुःख के साथ रखती है। यही वह चीज है जिससे उसमें अपनी कविता के प्रति गज़ब का स्वाभिमान जनमता है –

'हमर गीत के गीता ऐसन
बाँचे ले तैयार रहो।'

मुझे इस संग्रह की कविताओं में एक अलग तेज दिखा। यह संघर्षों के बीच के तपे-तपाए निडर कवि का तेज है। छात्र जीवन में प्रलेस, पटना की पत्रिका 'उत्तरशती' में इनकी कविताएँ मैंने पढ़ी थी। अद्भुत लगी थीं। मगही बोलता हूँ। मगही की कविता और ऐसी गज़ब कि उस प्रभाव ने कवि का नाम मेरे मन में अंकित कर दिया था। यह दुर्योग ही है कि तब (1985-86) के बाद अब जाकर इनकी कविताएँ पढ़ पाया हूँ। कवतिाओं को पढ़कर यह साफ हो जाता है कि क्यों इन्हें मगही का कबीर कहा जाता है। अक्खड़-फक्कड़ मिजाज जो किसी को न बख्से, वह यहाँ है। कबीर के समय से आज का समय बड़ा जटिल हो रहा है। समय का सच भी कहीं उलझा है। इससे इसे कविता में व्यक्त करना दुष्कर होता जा रहा है। पर नवीनजी कबीर की तरह सच को सुलझाकर कह देने में माहिर हैं।

'मैं कहता सुरझावनहारी, तू राख्यो अरूझाई रे' ऐसा वही कह सकता है जिसे अवसर और सुविधा से कोई मतलब नहीं, जिसका मन एकदम टनमन हो। हमारे भक्त कवियों का मन ऐसा ही स्वस्थ था पूरा टनमन। अकबर के दरवार से लौटकर अष्टछाप के भक्त कवि कुंभनदास ने कह ही तो दिया था -

संतन कहा सीकरी सों काम।

आवत जात पनहिया टूटी,, बिसरी गयो हरिनाम।

जाके मुख देखे दुःख उपजत वाको करे परी परनाम।।

कुंभनदास सरल कृष्ण भक्त थे। चले गए पर बड़े दुःखी हुए बल्कि ग्लानि-ग्रस्त। पंडित हजारी प्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी साहित्य की सही शुरुआत भक्ति काव्य से ही मानी है। कबीर - तुलसी-सूर जैसे स्वार्थ – निरपेक्ष पुरखों से हमारा प्रारम्भ गर्व का विषय है। तब तो निराला - मुक्तिबोध आदि जैसे कवि अपने यहाँ हो गए। वैसे कहने को तो काई भी बड़ी -बड़ी निर्दोष किस्म की बातें कह सकता है - 'पर उपदेश कुसल बहुतेरे। ' ऐसे लोगों के बारे में नवीनजी ने कहा है जैसे निराला ने 'वनबेला' में कहा था कि 'गर्दभ-मर्दन स्वर' में राजा का गुणगान करनेवाले भी हैं। नवीन जी ने कहा है-

'जे राजा के बात

कर रहल हे

ऊ महाकवि।'

एक खीझ है यहाँ और है हिकारत का भाव। यह कबीर में भी था, आज के कबीर में भी क्यों न हो? इस किस्म के दरबारी लोग बड़ी-बड़ी बातें कहें भी तो, बात में वह सच्चाई तो आने से रही। नवीनजी की ये पंक्तियाँ देखें –

टाँग फँसते कलट जा

हई

तब कत्ता चले कि कटारी

सत्ता सहजे पलट जा हई

फेर /ऊहे फंदा

कुछ त हूँ उगाहो / कुछ हमहुँ उगाहीं / मुफत के चंदा –

(*समय के तकाजा* पृ. 33)

असल में हर जगह दलालों का दखल हो गया है, राजनीति में भी। ये सब बस अपना फायदा देखते हैं और उसी के हिसाब से उनकी कारगुजारी चलती है। इस देश में बार- बार आन्दोलन हुए। स्वतंत्रता आन्दोलन, जे. पी. आन्दोलन, कई किसान आन्दोलन और हालिया नक्सलवादी आन्दोलन। सब हुआ पर अमीरी गरीबी की खाई न पटी बल्कि और बढ़ी। कारण इन सब आन्दोलनों का फायदा बड़े लोगों ने उठा लिया। जिन नीची कही जानेवाली जाति के लोग इनसे जुड़े वे बड़े हो गए और निजी फायदा उठाने में मशगूल हो रहे। वंचित तो वंचित ही रह गए। उनका हित यानी समूह-हित पीछे रह गया। या बस राजनीतिक फायदे का सौदा-भर हो गया। लागों के अंदर हजारों साल से चलते रहे

राजतंत्र का जो संस्कार है, वह बदल नहीं पाया और प्रभु वर्ग चाहे वह जिस किसी जाति का हो; उसका फायदा उठाने लगता है-

तोहर माथा पर
टहलुआपन टहल रहलो हे तो
समझ ऽ हा
ऊपर में मालिक हई जे नीचे में हइ
सब नाबालिग हई

लोग कहते हैं न कि आप जो भी कर रहे हैं, वह ऊपर वाला देख रहा है। पर नवीनजी साफ कहते हैं कि नीचे के जो बड़े लोग हैं वे उसके भी बाप हैं। उन्हीं ने तो उन्हें सिरजा है। उनके नाम पर और राजतंत्र ने जो उस ऊपर वाले की बिना पर और स्वयं भी गुलामी का जो जंजाल सिरजा है, उसके जंजाल में आम आदमी बेचारा बना रहा है। ऊपरवाले (ईश्वर भी और राजा भी) के नाम पर चुपा जायें धीरज धर लें पर उससे आपका गुजर नहीं होनेवाला। टहलुआपन यानी गुलामी का भाव। यह जो है न, वह कुछ सोचने से बरज देता है फिर जिंदगी तो बहुत कम मौका देती है। आदमी जो जैसा है, वैसा मान लेने को प्रस्तुत हो जाता है - माने यथास्थितिवादी। वह अपने मन को समझा लेता है, चुपा जाता है, इसीलिए समय का तकाजा है –

न कोय नोकर, न कोय राजा

अचरज की बात है, बात आगे बढ़ाने से पहले मैं कहना चाहता हूँ कि इस कविता में गजब की लय है। लय यों ही नहीं आती। यह असल में अपने समय और समाज से सही जुड़ाव से ही संभव है। सोच-समझ के यह नहीं आ सकता। यह कविता निराला की उन अतुकांत कविताओं की याद दिलाती है जिनमें एक आंतरिक लय बनी-ठनी चली चलती है। यह वस्तुतः अपने समाज से सही जुड़ाव से आता है। दूर से देख-समझकर यह नहीं आ सकता। सही जुड़ाव से ही स्वतःस्फूर्त बात निकलती है। और यह बात निहित स्वार्थों से एकदम हटी होती है। इसीलिए बेबाक भी होती है। नवीन जी ने कभी राजसुख नहीं भोगा, उनकी कविताओं में निडरता लगातार बनी रही। असल में है क्या कि यदि रचनाकार अवसर और सुविधा में बझ गया तो उसकी धार शनैः शनैः कुंद होती जाती है। वह सही और गलत की पहचान खोने लगता है। उसकी संवेदना में जकड़न आ जाती है। निडरता चली जाती है और वह सच कहने में समर्थ नहीं रहता। कविता में जोर-जबर, बनावटीपन और लफ्फाजी आने लगती है जिससे बात साफ-साफ समझ में नहीं आती। खैर ! उस पंक्ति पर आया जाय। न कोय नौकर है न कोय राजा। आखिर लोकतंत्र है भाई! पर, इस लोकतंत्र का रखवाला तो पूंजीतंत्र की गोद में बैठ गया है। प्रजातंत्र पर यह जो पूंजीतंत्र हावी है, उसनें सारी प्रजा झारन - झूरन (बचे-खुचे) के लिए जूझ रही है। मिड डे मिल, साइकिल योजना, बी. पी. एल., वृद्धावस्था पेंशन, इन्दिरा आवास आदि सब पूंजीतंत्र और राजतंत्र का घालमेल है। इनमें प्रजातंत्र का लौ-लेश भी नहीं है। लोग चुप रहें, इसलिए कुत्तों के आगे जैसे रोटी फेंकते हैं, प्रजातंत्र के हमारे नुमाइंदे फेकते जा रहे हैं! लोग इसी में उलझें अपनी ताकत खोते जा रहे हैं। इन योजनाओं में असली नफा बिचौलिया अफसर और नेता खा रहे हैं।

नवीनजी की उपर्युक्त कविता में यह बनावटीपन नहीं है। यहाँ भारी-भरकम शब्द - जंजाल और खिलवाड न मिलेगा और न ही ऊपरी या आकाशी बातें मिलेंगी। यहाँ तो कवि जड को पकड़ता है। सच कहें तो आज जड पकड़नेवाले रचनाकार दुर्लभ हैं। ज्यादा फुनगी-पतैया लोग हैं जो बस ऊपर-ऊपर भागे जा रहे हैं। कैसे भी काम चलाना और लोगों के बीच तत्काल चमत्कार दिखाने बाहबाही लूट लेने का उपक्रम है बस। बड़े लोगों का चक्कर लगाने और दरबार गहने वाले कवि - साहित्यिक नहीं हैं नवीनजी जो पुरस्कार पाने के लिए कुछ भी कह दें या तोप- झाँक के कहें। वैसों के लिए तो इनने कहा ही है-

जे राजा के बात कहे
ऊ महाकवि।

उन्हें महाकवि बनने की गरज नहीं है। उनने यह भी कहा है –

ऊ कवि / कलाकार के लानत हे,
जे अप्पन / भेस बना रहल हे
जबकि देश के एतना छिनाइत हे।
बेसरमी के बजार, ओकर रायल्टी
हजारों हजार। (*जनता के कवि*, पृ.127)

ऐसे महाकवि यथास्थितिवाद के पोषक हैं। पर नवीनजी तो गाँधीजी के सबसे निचले आदमी के साथ हैं। यह निचला तबका भारत का सबसे बड़ा तबका है-वृहत्तर भारत। यह हजारों साल से छला ही गया है। जाति-धर्म-राजनीति -इन तीनों ने मिलकर कभी इसे उबरने नहीं दिया। यह भी हुआ कि नक्सलवाद जैसा आन्दोलन बड़े धमक के साथ इन्हीं को उबारने चला, वह इन तीनों जाति-धर्म- राजनीति के बीच अपना अस्तित्व खो चला। जो बचा है, वह कमीशन खोरी-दलाली के उपक्रम में निहित स्वार्थों के बीच ऊभ-चूभ कर रहा है। निजी स्वार्थों की कोई सीमा नहीं, महासागर है यह। कुछ लोगों को ये बातें नागवार गुजरेंगी, पर है यह जमीनी सच्चाई। खैर, इन तीन तत्त्वों पर नवीनजी कसके चोट करते हैं-

लेकिन अपने घर में
नीम पर करइला चढ़ा रहला हे
हमर कहना हो
कि अगर सांति से रहना हो
तब जात आउ धरम के आड़ नै ला।
जेकर हाथ में थैला हो
ओकर जात अलग हो

अलग हो ओकर कहल

अउ तोहर पलानी (झोंपड़ी)

पलानी में रहै वाला के जात की ?

(*भविस के कामना*, पृ० 125–26)

नवीनजी के मार्क्सवाद में कहीं व्यावहारिक बात नहीं है, बेलाग बातें हैं। इसी अवसर सुविधा और व्यावहारिकता तात्कालिकता के चक्कर में मार्क्सवाद बिला गया। उसे अन्य भोंपू-दलों से अलग पहचानना मुश्किल है। आम आदमी की लड़ाई से अलग होकर इनने भी अपनी धार खो दी है। वही हाल नक्सलवाद का भी हुआ। इसी से नवीन जी जात धर्म को बेपर्द करते ही हैं, राजनीति से भी आगाह करते हैं। वे संघर्ष के दौर को याद करके जैसे एकदम *क्षुब्ध*होकर कहते हैं -

के हे हियाँ के जंगी ?

सब खेल रहल हे कुरसी के नौटंकी। (*मौत के बीमा,* पृ. 39)

चुनाव का यह खेल कवि की नजर में भारतीय आम जन के लिए भीषण घात की तरह है। यह घात आम आदमी को जो घाव दे चुका है, वह नासूर बन चुका है, और जैसे वह उसकी जान लेकर ही रहेगा-

'ई तबाही / सबके बना देतो राह के राही

राहो में काँटा गड़ जैतो / हो जैतो घाव

ई घाव तनी चोखैतो / जब ऐतो चुनाव

फेर तो खँघरतो / अउ खँघरतो

तब कभी नै भरतो।

नवीनजी जनपक्षधर कवि हैं। वे जानते हैं कि चुनाव का यह चक्कर दिलासा भर हो रहा है। पर दिक्कत यह है कि इस चक्कर ने आम आदमी के जूझने की ताकत को छिजा दिया है। कुछ होगा- कुछ होगा के चक्कर में भरमाया आदमी अपने वाजिब हक से महरूम होता जा रहा है। सरकारें उसके आगे कुत्तों के आगे रोटी फेंकने जैसा बर्ताव किए जा रही हैं और वे कुकुरहाँव में मुब्तला हैं। लोकतंत्र की लोक कल्याणकारी योजनाएँ धराशायी हैं। ये मजाक बन गयी हैं। शिक्षा, स्वास्थ्य, उद्योग, कृषि – सबके निजीकरण ने चौराहा तैयार कर लिया है। जो लोक कल्याणकारी योजनाएँ हैं, उसमें दलालों, अफसरों, नेताओं की मौज है। लूट मची है। हाँ, इसमें मुफ्तखोरी, गुलाम मानसिकता,चाटुकारिता और भिखमंगाई ने आम आदमी में पसारा कर लिया है। पीढ़ी-दर-पीढ़ी को यह मिल रहा है। नवीनजी बीस बरस पहिले यह बूझ चुके थे -

डॉक्टर ले लेलको हे

तोहर मौत के बीमा।

'आज़ादी के बाद' कविता में लोकतंत्र और इसके नाम पर हो रहे बाँट-बखरे को वे और भी स्पष्ट करते हैं-

'और सरकारी राहत / ऊँट के मुहँ में जीरा

ग़रीब के गोड़न / सब खा जा हे

खाखू और खखोरन
फजीहत के कोठरी में आदमी बंद हे
फजीहत करेवाला के हौसला बुलंद हे।
हौसला बुलंद हे उन्मादी के।

बीच के दलाल लूट में अप्पन नफा कमा रहे हैं। ये ठेकेदार, अफसर, नेता और उनके चमचा - बेलचा सब अपने फायदे के लिए कुछ भी कर सकते हैं। धर्म जाति के नाम पर दंगे - नरसंहार करवा सकते हैं। आजकल यह जो जमीन हथियाने वाला उपक्रम शुरु हुआ है या फिर खेती की दुर्दशा की जा रही है उसमें लोग धन-जन दोनों गवाँ रहे हैं। नव उदारवाद और बाजारवाद का यही प्रताप है। किसान अपनी फसलों का सही दाम न पा सके। खाद-बीज पटवन - मजूरी-सोहनी - दवनी की लागत फसलों की कीमत पर भारी पड़ती जा रही है। बाजारी समय में किसान महंगाई में मारा जा रहा है। आका लोग अमेरिका-इंगलैंड घूमते बाजार बनाते फिर रहे हैं। किसान परेशान तो मजूर क्या पावेगा ! सो, पलायन जारी है – किसानों का भी, मजूरों का भी। जीवन बचावें या संघर्ष - क्षमता और आपसी एका ! बड़का बनने की भूख में इस बाजारी समय में आदमी अपने आप में सिमटता गया है। वह अपनी संघर्ष-क्षमता को भूल गया है। संघर्ष क्षमता भूलना और आपसी एकता से महरूम हो जाना असामाजिक होना है। असामाजिक आदमी पशुतुल्य होता है। आदमी को पशु बनाने का उपक्रम जारी है। पूंजीवाद का यह भयानक तोहफा दुनिया को रहने लायक रहने देगा क्या ? ऐसे में नवीनजी की यह बात मार्के की है –

'हौसला बुलन्द हे ई उन्मादी के
ऐतो जब आजादी
अहिंसा के गर्दन में लटक जैतो
गाँधीजी पूजा के वस्तु हो रहे / ये / हिंसावादी !
हत्यारे दो-चार दिन पूजा अर्चना करके
बाकी दिन अपने फेर में लगे रहते हैं। (*आजादी के बाद*)

राजनीति से यह मोह भंग वस्तुतः कवि का उपजीव्य है। जात-धरम-राजनीति के भरमाऊ और भकोसू कारगुजारी को निशाना बनाना मुख्य कार्य है क्योंकि सही आज़ादी इससे जूझे बिना नहीं आ सकती-

जात-धरम आग हो
बल से बुझावे ले पड़तो
दुस्मन के / मैदान में सुतावेले पड़तो
पड़तो झंडा फेर / आजादी के गाड़े ले पड़तो

'यह आजादी झूठी है, देश की जनता भूखी है' यह नारा आजादी के जुलूस में एक सोसलिस्ट कार्यकर्त्ता ने लगाया था, 'मैला आँचल में।आज वह झूठी या अधूरी ही सही ; जैसी भी आजादी थी, जाती रही। जमींदारी उन्मूलन आजादी के बाद

का बड़ा कदम था,भले विशाल जमात भूमिहीनों की, बची रह गई थी। पर एक काम तो हुआ ही था। आज तो दुलारे पूंजीपतियों और नाते दारों को हजारों एकड़ भूखंड देकर नये जमींदार खड़े किये जा रहे हैं आजादी से निकले नेताओं में थोड़ी शर्म तो थी। आज के इस लूट तंत्र ने अंग्रेजों की गुलामी का नया संस्करण लाने का पूरम्पूर ठाट बाँध लिया है, पूरम्पूर आज़ादी और-और दूर होती हुई ओझल ही होती जा रही है। पर रचनाकार का मन सर्जक होता है, नारी की तरह वह आशा के बंधन से बंधा होता है। दिनकर ने लिखा है न

वह प्रदीप जो दीख रहा है झिलमिल, दूर नहीं है
थककर बैठ गये क्यों भाई, मंजिल दूर नहीं है

आशा का बंधन फूल से भी कोमल पर बड़ा कठोर होता है। नवीनजी भी आशा - उम्मीदों को नहीं छोड़ते। रचनेवाला यदि उम्मीद छोड़ देगा तो बचेगा क्या ?

कितना दिन, वर्तमान के
धकियइते ई भूत
भविष्य में रहते नै जात - धरम धत
अपन भविष्य के कामना करो

दुःख थोड़े दिन हो सामना करो सहना नहीं, संघर्ष करना। जूझें, तभी बूझेंगे और फिर उबरेंगे। ऐसा वही कवि कह सकता है जो जनता का कवि है। बड़े लोगों का गुणगान करनेवाले कवि और हैं जिनके बारे में निराला ने 'वनबेला' कविता में कहा है कि वे 'गर्दभ -मर्दन स्वर यानी गदहे को लजाने वाले सूर में गा-गाकर बड़े लोगों का गुनगान करते फिरते हैं और तनिक लज्जा नहीं महसूसते। यह घिनौनी बात है। नवीनजी निराला के सुर में अपनी कविता के बारे में कहते हैं-

हम तो घर के झाड़ू ही
गंदगी झारे के हमर काम हे
घर-घर के गन्दगी जब दूर हो जै तो
तब जुल्मी अपने मजबूर हो जैतो

निराला भी तो ऐसे ही थे। नहीं, देवी, चतुरी चमार, बिल्लेसुर, बकरिहा आदि क्यों लिखते, भला। यह वस्तुतः एक मार्क्सवादी कवि की अदम्य जिजीविषा का सूचक है जो इस मानव विरोधी समय में नवीनजी को प्रासंगिक बनाता है।